

इकाई 12 प्रारम्भिक मध्यकाल में स्तरीकरण का स्वरूप एवं कृषक समाज की क्षेत्रीय रूपरेखा : उत्तर भारत

C.550-1300 ईसवी

इकाई की रूपरेखा

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 भू-स्वामित्व
- 12.3 कृषक समाज पर राज्य के अधिकार
- 12.4 राज्य और स्तरीकरण-1
- 12.5 राज्य और स्तरीकरण-2
- 12.6 कृषक, बटाईदार और भू-स्वामी : कृषक समाज का आरोही स्वरूप
- 12.7 सारांश
- 12.8 अभ्यास
- 12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.1 प्रस्तावना

प्रारम्भिक भारतीय समाज को सजातीय के सिवाय कुछ भी कहा जा सकता था। लोगों के बीच हर तरह की भिन्नता विद्यमान थी, और यह भेद स्तरीकरण से संबंधित था। जाति इसका एक जाना-माना उदाहरण है : किसी प्रदत्त क्षेत्र में अनेक जातियाँ होती थीं, जो पदानुक्रम में संगठित थीं, कोई भी दो भिन्न जातियाँ परस्पर समान नहीं थीं। दूसरे शब्दों में, जाति-आधारित स्तरीकरण का बोल-बाला था। स्तरीकरण के अन्य पैटर्न भी मौजूद थे। हम इस इकाई में कृषक समाज में लोगों की आजीविका पर आधारित स्तरीकरण से ही सम्बद्ध रहेंगे।

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में भूमि बहुत ही महत्वपूर्ण संसाधन थी, जैसा कि दरअसल सभी पूर्व-औद्योगिक खाद्य-उत्पादनकारी समाजों में था। भारी बहुमत उन लोगों का था जो खेती पर निर्भर थे, जैसा कि तुलनात्मक प्रमाण दर्शाते हैं, कुल जनसंख्या के नब्बे प्रतिशत या उससे भी अधिक लोग खेती में लगे हुए थे, जिसके मछली-पालन और पशुपालन महत्वपूर्ण गौण भाग थे। इस कृषि समाज में स्तरीकरण भूमि व उसके उत्पादों के असमान वितरण पर आधारित था। कृषि उत्पादन में रत जन-साधारण के बीच – भूमि के असमान वितरण पर आधारित – महत्वपूर्ण विभाजन थे, और उत्पादकों से वसूले गए अधिशेषों के असमान वितरण पर आधारित (काफी कम लोगों के बीच) संभवतः और भी बड़ा स्तरीकरण था। उन अधिशेषों के एक हिस्से पर भूमिपतियों (भू-स्वामी जो खुद खेती नहीं करते थे) और धनी किसानों (कृषक जिनके पास इतनी अधिक ज़मीन होती थी कि वे उसके केवल कुछ भाग पर ही खेती करते थे, बाकी पर दूसरों से खेती करवाते थे) द्वारा भू-स्वामित्व के आधार पर दावा किया जाता था। परंतु, सभी स्थितियों में राज्य की प्रमुख भूमिका थी। उसका भूमि, उसकी उपज और साथ ही उत्पादकों की श्रम-शक्ति पर भी दावा होता था।

जैसा कि हमने पिछली इकाई में देखा, कृषि-संबंधों की ओर विद्वानों ने विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों के कृषक समाजों के बारे में, काफी कुछ सूचना सैकड़ों भू-अनुदान अभिलेखों से प्राप्त होती है। परंतु कृषकों के मध्य स्तरीकरण के सभी पहलुओं पर समान रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। अधिकांश उपलब्ध सूचना भू-स्वामियों की उत्पत्ति से जुड़ी हुई है। 'भूमिधारी

बिचौलियों' की उत्पत्ति के माध्यम से कृषक समाज की एक सामान्य परिवर्तन प्रक्रिया को प्रकाश में लाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के पुरालेखीय आँकड़ों का विश्लेषण किया गया है। परन्तु भू-अनुदान प्रेरित कृषक समूहों एवं स्तरीकरण पैटर्नों की बजाय कुछ अन्य कृषक समूहों व कुछ अन्य स्तरीकरण पैटर्नों की विद्यमानता को रेखांकित करने के प्रयास भी किए गए हैं। इन अन्य समूहों के लिए क्षेत्र एवं स्थान विशिष्ट आँकड़े भी प्रायः पूरी तरह से उन नितांत भू-अनुदान अभिलेखों से ही प्राप्त होते हैं जो भूमिधारी बिचौलियों की उत्पत्ति का प्रमाण देते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत के उन क्षेत्रों एवं कालों के लिए कृषि-संबंधों की अपेक्षाकृत अधिक जानकारी मिलती है जिन क्षेत्रों के भू-अनुदान अभिलेख हमें मिलते हैं।

इस प्रकार, इन अभिलेखों की अनुपलब्धता का मतलब यह हुआ कि कृषि-संरचना संबंधी हमारे ज्ञान में कमी (gap)। इस प्रकार, प्रारंभिक मध्यकालीन पंजाब और उत्तर-गुप्त एवं परमार-पूर्व मालवा क्षेत्र कृषि के लगभग चार सौ वर्षों के अन्तराल के लिहाज से मध्य भारत का सर्वाधिक व्यापक रूप से खेती किए जाने वाला क्षेत्र, प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में और भी अधिक के लगभग चार सौ वर्षों तक हम इन क्षेत्रों से प्राप्त भू-अनुदान अभिलेखों के प्रायः अभाव के कारण कृषि संगठन के विषय में हम न्यूनाधिक अंधेरे में ही हैं। राजतरंगिणी को छोड़कर, साहित्यिक स्रोतों का अब तक क्षेत्रीय कृषि संरचना के पुनर्निर्माण हेतु दोहन नहीं किया गया है।

प्रारंभिक मध्य भारत में कृषि-स्तरीकरण के समग्र लक्षणों के संबंध में भी महत्वपूर्ण मतभेद रहे हैं; ये सामन्तवाद संबंधी विवाद की विषयवस्तु हैं जिसके विषय में आप अलग से इकाई 10 में पढ़ चुके हैं।

विडम्बना यह है कि जिसके महत्त्व पर विद्वान पूरी तरह से सहमत और समान रूप से सुस्पष्ट हैं, उस पहलू पर अल्पतम ध्यान दिया गया है। सभी इतिहासकार प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की सही समझ के लिए क्षेत्रीय प्रसंग के महत्त्व को, जो सही भी है, काफी लम्बे समय से स्वीकार करते आ रहे हैं। परन्तु प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत की क्षेत्रीय रूपरेखा, उन विषयों एवं कालों तक के लिए एक अभीष्ट वस्तु रही है जिनकी संभावना स्पष्टतः पहचानी जा सकती है। अतः 1965 में आर. एस. शर्मा ने तर्क दिया : 'उत्तर भारत में पुरोहितों, मंदिरों, सामन्तों और सरकारी कर्मचारियों को अनुदान में मिले गाँवों के व्यापक क्षेत्रीय सर्वेक्षण का तुर्की विजय से पूर्व दो शताब्दियों में उपलब्ध भू-चार्टों के आधार पर प्रयास किया जा सकता है ...'। (शर्मा, 1965, पृ. 210, रेखांकन हमारा) परन्तु आज तक ऐसा कोई भी प्रयास नहीं किया गया है, जैसा आप इस इकाई हेतु चयनित पाठ्य सामग्री और उनमें दिये संदर्भों को पढ़कर जान सकते हैं।

हमारी जानकारी क्षेत्रीय कृषि-अर्थव्यवस्थाओं के बीच अंतर के विषय में न होकर क्षेत्रों के बीच कृषि-संरचनाओं की एकरूपता के विषय में बेहतर है। स्थान-विशिष्ट विवरणों के प्राचुर्य के बीच (किसी सटीक स्थान संबंधी संदर्भ के बिना शायद ही कोई पुरालेखीय आँकड़ा हो), और कुछ क्षेत्रीय अध्ययनों के बावजूद (जैसे कि बी.डी. चट्टोपाध्याय और मर्लिन नियामाश द्वारा किए गए अध्ययन), कृषि स्तरीकरण की क्षेत्रीय विशेषताएँ — जो क्षेत्र-विशेष हेतु विशिष्ट लक्षणों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित हैं — वस्तुतः मध्यकालीन उत्तर भारत के कृषि-भूदृश्य के स्थूल चित्रों को चित्रित नहीं करतीं।

कृषि-विस्तार की क्षेत्रीय विविधता की हमारी छवि इस प्रकार योजनाकारी स्तर से ऊपर उठने में विफल रही। हालाँकि इसका कारण बताना आसान नहीं है। शायद कृषि-स्तरीकरण के विषय में निहित स्वार्थ के कुछ निश्चित संकेत मिलते हैं। यह बात सामन्तवाद संबंधी विवाद द्वारा फिर से तीक्ष्ण ध्यानाकर्षण का केन्द्र बनी, जहाँ बहुत से निर्णायक बिन्दुओं को रेखांकित और स्पष्ट किया गया, जैसे बेगार और भाड़े के श्रमिकों के बीच भेद। (यदि किसान उनको मिली ज़मीन के बदले में भूमिपति की ज़मीन पर एक सप्ताह या माह में कुछ दिवस के लिए काम करते थे, तो वे उसे उस श्रम के रूप

में किराया (labour rent) चुका रहे होते थे। 'बेगार' लोगों द्वारा अपने राजनीतिक स्वामियों, शासक अथवा उसके अधीनस्थ के लिए अवैतनिक और अनिवार्य श्रम सेवा है) परन्तु प्राचीन भारत के कुछ अग्रणी-पदाधिकारी और अग्रणी इतिहासकारों के अनुसार इसने एक प्रकार का गतिरोध पैदा किया। यहाँ तक कि हरमन कुल्के ने प्रारम्भिक मध्यकालीन राजनीतिक संरचनाओं पर विस्तारपूर्वक लिखते हुए, भारत-संबंधी अपने सामान्य इतिहास में कृषि-संबंधी इतिहास विषय को पूर्णरूपेण ही छोड़ दिया। अन्य विद्वान व्यग्र होकर प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत संबंधी तमाम विवादों में फँस गए – वास्तविक और कल्पित – (व्यापार, सिक्का ढलाई, शहरीकरण, 'बाह्यण बस्तियों' का महत्त्व, सामन्तवाद)। परन्तु वे अपने कृषि-संबंधी विवरणों में सहज ही विवाद से कतराकर गुज़र गए (बी.पी. साहू, 1997; रनबीर चक्रवर्ती, 2000)। सिंहावलोकन में, इस निष्कर्ष से बचना मुश्किल है कि प्रारम्भिक मध्यकालीन कृषि-संरचना पर शोधों में कुछ कम ही ध्यान दिया गया।

12.2 भू-स्वामित्व

प्रारम्भिक भारत में भू-स्वामित्व का प्रश्न प्रायः वाद-विवाद का विषय रहा है, जहाँ कुछ इतिहासकार भूमि के राजकीय स्वामित्व के पक्षधर हैं तो कुछ अन्य वैयक्तिक या निजी स्वामित्व के, और उसके बावजूद कुछ अन्य साम्प्रदायिक स्वामित्व की बात करते हैं। इनमें से प्रत्येक दृष्टिकोण के पक्ष में, स्रोतों में सुस्पष्ट प्रमाण पाना संभव है। उदाहरण के लिए, यह तर्क कि प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में 'राज्य वास्तव में, यदि कानूनतः नहीं भी तो, भूमि का मालिक समझा जाए' के साक्ष्य हमें जुआन जाँग (7वीं शती ईसवी) के संदर्भ में मिलते हैं (यू.एन. घोषाल, 1929, पृ. 303)। ऐसे प्रत्येक साक्ष्य की सत्यता का प्रतिवाद करना भी समान रूप से संभव है। उदाहरण के लिए, यह दावा किया जा सकता है कि जुआन जाँग अपनी चीनी पृष्ठभूमि के कारण दिग्भ्रमित होकर, भारत की स्थिति को ठीक-ठीक नहीं आँक सका (घोषाल, 1929)।

परन्तु ऐसा नहीं है कि साक्ष्य संबंधी इस भ्रम और तदनुसार उसकी व्याख्या का समाधान नहीं है। यह प्रश्न ठीक नहीं है कि भूमि राज्य की थी अथवा व्यक्ति/समूह की, क्योंकि दरअसल, दोनों ही समान रूप से, हालाँकि पृथक्-पृथक्, भूमि के मालिक थे। जैसा कि पी.वी. काणे द्वारा उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र* में स्पष्ट किया गया है, 'राज्य को आमतौर पर सभी भूभागों का स्वामी माना जाता था,' परन्तु 'व्यक्तिगत और सामूहिक कृषक जो अपने अधिकार वाले भूखंडों पर स्वयं खेती करते थे, उन्हें मुख्यतः उन भू-खंडों का मालिक समझा जाता था, इस प्रकार उनकी भू-कर चुकाने की जिम्मेदारी होती थी और कर अदा न किए जाने की स्थिति में भूमि को बेचने हेतु राज्य के अधिकार के अधीन होते थे।'

यह इस प्रकार एक सहविस्तृत अधिकारों का मामला था। वस्तुतः, उक्त प्रश्न संबंधी काणे के प्रामाणिक सर्वेक्षण से पूर्व, इस पर बहस जाने-माने विद्वानों की एक बड़ी संख्या द्वारा की गई थी, जैसे विल्क्स, ड्यूबोइ, एल्फिन्स्टन, पैटन, शैमियर तथा विल्सन। हमने ऊपर 'स्वामित्व' शब्द पर जोर दिया गया है क्योंकि प्राचीन भारत में सम्पत्ति की अवधारणा (स्वत्व) की विशिष्ट विशेषता थी, जिसके द्वारा भूमि पर सभी प्रकार के अधिकारों को 'सम्पत्ति' में अंगीभूत किए जाने के रूप में विभिन्न संदर्भों में पहचाना जा सकता है, यहाँ तक कि उप-रेहननामा (sub-mortgages) संबंधी अधिकार भी इसमें शामिल थे। इस प्रकार, भूमि को 'स्वामित्व' के विभिन्न रूप से देखा जा सकता था, जैसे राजा के अथवा व्यक्तिगत अथवा काश्तकार-किसानों, इत्यादि के स्वत्व के रूप में। इस विशेषता को पहचानने की विफलता संभवतः स्वामित्व संबंधी उपर्युक्त विवाद का मुख्य कारण रहा। यह अधिकारों के सहअस्तित्व की गैर-कदरदानी के अलावा है।

इन बहुल 'स्वामियों' के बीच, एक मूल-स्वामी होता था जिसका ज़मीन पर हक सर्वाधिक होता था। जैसा कि काणे वर्णन करते हैं, 'इन व्यक्तियों और समूहों के अपने स्वामित्व में जोती गई ज़मीनें थीं' – यथा, सामान्य कृषक एवं भू-स्वामी – जिन्हें 'मूलतः भू-स्वामी समझा जाता था।' उनके पास

अपनी ज़मीन हेतु स्वामित्व का अधिकार होता था (यथा, आगम, जिसका शाब्दिक अर्थ था 'कानूनन अधिकार'), और उन्हें 'मूलस्वामी' कहा जाने लगा - जो अन्य स्वामियों - या भौमिकों जिनके पास स्वयं की भूमि या ज़मीन होती थी, से भिन्न थे। ये ही वे लोग थे जो भूमि पर राजस्व चुकाते थे, स्वयं उस पर कृषि का तरीका निर्धारित करते थे, उसे पूरा का पूरा अथवा अंशतः उपहार में दे सकते थे, और जिनके बच्चे उसे उसकी सभी व्याप्तताओं के साथ उत्तराधिकार में प्राप्त करते थे (कानूनन 'व्याप्तताओं' का अर्थ है - विशेषाधिकार, दायित्व अथवा अधिकार, जो सम्पत्ति के किसी हिस्से से संबद्ध हो)।

प्रारम्भिक मध्यकाल में स्तरीकरण का स्वरूप एवं कृषक समाज की क्षेत्रीय रूपरेखा : उत्तर भारत

प्रजा का भू-स्वामित्व संबंधी अधिकार राजा के लिए भूपति, अर्थात् धरती का स्वामी; और भूस्वामिन अर्थात् भूमि का स्वामी, आदि शब्दों के प्रयोग से अमान्य नहीं हो जाता। ये शब्द राज्य के सुव्यक्त दावों का संकेत करते थे। ये दावे राज्य के भू-स्वामियों के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करते थे, और न ही उन्हें अधिकारविहीन काश्तकार बनाते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे राजा के लिए प्रयुक्त शब्द 'नरपति' अर्थात् 'मनुष्यों का स्वामी' किसी भी दृष्टि से प्रजा को अपना दास बनाकर उनकी आज़ादी छीनने का द्योतक नहीं है।

12.3 कृषक समाज पर राज्य के अधिकार

वास्तव में, 'भूपति' और 'नरपति' जैसे शब्द राज्य और उसकी प्रजा पर राज्य के कुछ निश्चित दावों का संकेत अवश्य करते हैं। इन दावों के विस्तृत विवरण, वस्तुतः, विधि और पुरालेखीय साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। परंतु, भूमि पर राजकीय बनाम वैयक्तिक स्वामित्व की बहस, विशेष रूप से प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि-संरचना के प्रसंग में, इन दावों के सही स्वरूप को धूमिल करने की ओर अधिक प्रवृत्त थी। राजकीय स्वामित्व की वकालत का अर्थ किसी भी तरह से कृषक अधिकारों का इंकार नहीं है। इसी प्रकार वैयक्तिक स्वामित्व संबंधी प्रतिदावों के रूप में उपजे विवाद राज्य को महज राजस्व-उगाही संबंधी उसकी भूमिका तक ही सीमित करते हैं।

राजस्व एकत्रित करने वाले एक निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के बजाय, राज्य की कृषक-समाजों में सक्रिय भूमिका थी; राज्य द्वारा अपने सभी दावों को पूरी तरह से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रयोग किया गया। यह कर-निर्धारण से आरंभ होता था, अर्थात् करों के लिए भूमि के मूल्यांकन से। कृषि भूमि की गुणवत्ता के आधार पर राज्य हर कृषि-भूमि से एक निश्चित उपज की उम्मीद करता था, और उसी के अनुसार उस पर कर लगाता था। जैसा कि हम देखते हैं, उदाहरण के लिए, कि नौवीं शताब्दी में असम में अनुदान में दिए गए एक भूखण्ड के दान का निर्धारण धान की 2000 मापों के बराबर किया गया। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि उस भूमि पर राज्य द्वारा ही इस प्रकार कर-निर्धारण किया जाता था। भू-स्वामियों पर विधि संहिताएँ जुमनि का परामर्श देती हैं यदि उनके द्वारा भूमि पर ठीक से खेती न की गई हो, उम्मीद से कम पैदावार करते हों, और इस प्रकार राजकोष को हानि पहुँचाते हों। कृषि की उपेक्षा का दरअसल अर्थ हो सकता था - कुछ समय पश्चात् भू-स्वामित्व के अधिकार का छिन जाना। इस अर्थ में वास्तव में भूमि राज्य की ही होती थी।

इस प्रकार, व्यक्तिगत (और समूहों) का भू-स्वामित्व अधिकार केवल एक नियत दर्जे तक उत्पादन करने की शर्त पर ही निर्भर था। बाकी सब क्षेत्र राजा के सीधे नियंत्रण में होते थे, जो दरअसल उसे किसी न किसी तरीके से अपने उपयोग के लायक बनाने में ही रुचि रखता था। यह काम अधिकतर लोगों को निजी स्वामित्व के तहत उसे औपनिवेशीकृत करने हेतु प्रोत्साहित करके किया जाता था, जैसा कि हमने पिछली इकाई में देखा। परन्तु प्रारंभिक मध्यकालीन राज्य इसको काफी हद तक खुद ही नियंत्रित करता था, जैसा कि हम अब देखेंगे।

एक भूपति के रूप में, समस्त क्षेत्र पर अपने स्वामित्व के आधार पर, राजा का अपनी भूमि (वन सम्पदा समेत) की सभी प्रकार की पैदावार के एक हिस्से पर दावा था, न कि सिर्फ मुख्य फसलों के

हिस्से पर। फल, कंदमूल, ईधन, सब्जियों, घी, तेल, हर वह चीज़ जो राज्य की ज़मीन पर, उसके नीचे और उसके ऊपर उगती थी, उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं थी; सिद्धांततः कुछ भी राज्य की माँग से अछूता नहीं था।

राजा *नरपति* होने के आधार पर, अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए राज्य के समस्त प्रजाजनों पर अधिकार था; सभी स्पष्ट रूप से उसकी आज्ञापालन के अधीन थे; यह आमतौर पर विधि द्वारा (शास्त्रिक) प्रमाणित था। इनमें से एक था अच्छे आचरण में चूक होने पर जुर्माने के रूप में। दूसरी तरह की माँगों में शामिल थीं सामान्यीकृत श्रम सेवा, जो समाज के विशिष्ट वर्गों, विशेषरूप से शिल्पकारों, से वसूले जाने वाले श्रम कर से भिन्न होता था।

जैसा कि एक अभिलेख में वर्णित लोकोक्ति दर्शाती है, राज्य का अधिकार अच्छे या ईमानदार (*सदाभिः*) व्यक्तियों द्वारा ठीक ढंग से सम्पोषित (*परिपालितम्*) भूमि को जब्त करना नहीं था। आपको भूमि के 'उचित सम्पोषण' का अर्थ मालूम होगा। परन्तु लोगों को 'अच्छा'/'ईमानदार' भी होना आवश्यक था। यदि उनको उचित व्यवहार से विचलित पाया जाता था तो राज्य आमतौर पर उनकी ज़मीन वापस नहीं लेता था बल्कि वह उनके ग़लत आचरण के लिए दंड देता था। ये दंड या जुर्माने राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण साधन थे क्योंकि यह धन सामाजिक व्यवस्था के रखरखाव में लगाया जाता था। वस्तुतः 'दंड' का अर्थ संस्कृत में जुर्माना और सज़ा दोनों होता था, जैसा कि हिन्दी व अन्य यूरोपीय भाषाओं में समझा जाता है। प्रारम्भिक मध्यकालीन राज्य के अभिलेखों में एक आम अभिव्यक्ति मिलती है — *दंड-दशापराध*; जिसका अर्थ है — 'दस अपराधों' के लिए जुर्मानों के रूप में सज़ा। इनका अर्थ किन्हीं दस विशिष्ट अपराधों के लिए इतना नहीं था, बल्कि उन दस श्रेणियों के लिए था, जैसा कि विधि-साहित्य में देखने में आता है, जो अपने कार्यक्षेत्र में लगभग सभी को समेटती हैं; *दंड-दशापराध* का तात्पर्य इस प्रकार आमतौर पर न्यायिक अर्थदंड प्रतीत होता है। उनमें से एक छोटा, मगर प्रभावी नमूना निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है, जो गुजरात के एक मैत्रक शासक के 592 ईसवी के एक चार्टर में मिलता है :

धकेलकर गिरा देने (दूसरे व्यक्ति को) और उसे घसीटने के लिए, अथवा एक कान काटने के लिए, जुर्माना है 27 रूपक। वाद-विवाद द्वारा चोट पहुँचाना अथवा हिंसा (पिटवाई) द्वारा चोट पहुँचाने पर, जुर्माने के रूप में 6¼ रूपक। यदि (स्थायी) चोट का चिह्न दिखाई पड़ता है (पिटवाई के परिणाम स्वरूप) तो 48 रूपक।

एपिग्राफिया इंडिका, भाग 30, पृष्ठ 163-81, अनुवाद डी.डी. कोसाम्बी; (रूपक एक प्रकार का चाँदी का सिक्का था)।

प्रजा पर अपने स्वामित्व के आधार पर, राज्य अनेक तरीकों से उनसे सेवा प्राप्त करने हेतु अपने अधिकार का झूठा दावा भी करता था। यह बेगार हर जगह ली जाती थी, और आमतौर पर *विश्टी* या *पीड* के नाम से जानी जाती थी। कश्मीर में इसे *भारोढी* (या उसके विस्तृत रूप से *रूढभारोढी*) कहा जाता था; असम में *उत्खेतन* का भी संभवतः यही अर्थ था। बेगार अनेक प्रकार की हुआ करती थी। यह इस बात पर निर्भर करता था कि जिस काम के लिए उसकी आवश्यकता है उसका स्वरूप क्या है। जैसा कि शब्द *भारोढी* दर्शाता है, कश्मीर में बेगार बोझा ढोने के रूप में होती थी, परन्तु यहाँ भी कल्हण इसके तेरह प्रकारों का वर्णन करता है। अभिलेख आमतौर पर सभी (*सर्व*) प्रकार की बेगार अथवा अक्सर विशेष पर ली जाने वाली (*उत्पद्यमान*) बेगार का संकेत करते हैं, परन्तु नेपाल से प्राप्त अभिलेख अनेक प्रकारों का वर्णन करते हैं, इनमें एक रोचक (और बोधगम्य) उदाहरण है '*भोटा-विश्टी*', अर्थात् वह *विश्टी* जिसमें तिब्बत की और माल ढोने वाले शामिल थे। बेगार लिये जाने के विषय में ध्यान रखा जाता था कि अधिशेष उत्पादन में रत जनसाधारण के श्रम-काल में गतिरोध न आये ताकि राजस्व उगाहने वाली उत्पादन-प्रक्रियाएँ बाधित न हों, जैसे बीज बोना या फसल काटना।

राज्य द्वारा गाँवों से गैर-ग्रामीण क्षेत्रों की ओर संसाधनों के हस्तांतरण के कारण गाँव इस हद तक गरीब हो गए कि अपने आप में उन्होंने कृषक समाज में स्तरीकरण के स्वरूप को प्रभावित नहीं किया होगा। परन्तु, यदि कर कम आय पर ज्यादा था — जैसा कि प्रतीत होता है — तो वह दरार बढ़ाने के सिवाय कुछ नहीं करता। कम आय पर अधिक कर लगाए जाने का अर्थ है कि राजकीय माँगों का बोझ असमान रूप से विभाजित होता था, करों का बोझ विशेषाधिकार-प्राप्त सामाजिक रूप से सम्पन्न वर्गों की अपेक्षा गैर सम्पन्न बहुसंख्यक वर्ग पर अधिक था। जैसा कि आप प्रारम्भिक मध्यकालीन राज्य-व्यवस्थाओं संबंधी इकाइयों में देखेंगे, महत्तर और पट्टलिक जैसे स्थानीय लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्ति जो राज्य प्रशासन से नियमित रूप से जुड़े रहते थे इस प्रत्यक्ष हस्तक्षेप और अपने प्रभुत्व के माध्यम से वे हमेशा अपने ही पक्ष में करों को सफलतापूर्वक इच्छानुसार कर लेते थे।

फिर ऐसे लोगों और संस्थाओं का भी अस्तित्व था जिनकी ज़मीन आधिकारिक रूप से या तो कर मुक्त होती थी या फिर उस पर कर रियायती दर पर लगाया जाता था। अनेक अभिलेख मंदिरों और ब्राह्मणों की भूमि का प्रमाण देते हैं जो कर मुक्त होती थीं (देव-ब्राह्मण-भुक्तिवर्जम्)। यह एक विशेष प्राधिकार था जो मंदिरों और ब्राह्मणों के सामान्य वर्ग को उपलब्ध नहीं था। वस्तुतः, भू-अनुदानों की एक श्रेणी हुआ करती थी, जिसे कर-शासन कहा जाता था जिसमें कर-दायित्व तो होते थे परन्तु रियायती दरों पर थे। ब्राह्मणों के विशिष्ट वर्ग को ब्रह्मणोत्तर कहा जाता था, और पुरालेखीय प्रमाण दर्शाते हैं कि वे करों में रियायत का लाभ उठाते थे। ब्रह्मोत्तर और देवोत्तर नामक दो कर-मुक्त श्रेणियाँ क्रमशः आधुनिक काल तक अस्तित्व में बनी रही, ब्रह्मोत्तर जाहिर तौर पर ब्रह्मणोत्तर का ही संक्षेपण था (किसी ब्रह्मणोत्तर की भूमि के अर्थ में)।

गाँव से राज्य के हिस्से को हटा देने पर शेष भागों का उपभोग स्वयं देहात में ही होता था। कुछ मिली-जुली परिस्थितियाँ इसके समर्थन में थीं। राज्य भर में सशस्त्र बलों व अन्य राज्य कर्मियों का एक समान वितरण था, और यही एकमात्र कारण था कि उनका खर्च स्थान-विशेष की शासकीय आमदनी से ही निकाला जाता था। फिर एक बड़ी संख्या ग्राम संसाधनों की थी, जैसे, सब्जियाँ, दूध, मछली, आदि, जिनमें से हर वस्तु पर राज्य अपने हिस्से की मांग करता था, जिनके नकद भुगतान हेतु आमतौर पर मुश्किल से ही कोई बाज़ार होता था; और इनमें से अधिकांश वस्तुएँ चूँकि जल्दी खराब होने वाली तथा/अथवा भारी वस्तुएँ होती थीं, अतः उनके लम्बे समय तक भण्डारण और लम्बी दूरी तक लाने-ले-जाने में प्रायः काफी समस्याएँ पेश आती थीं। अन्ततः, युद्ध के साजो-सामान को ढोने और सरकार द्वारा गैर-उत्पादक प्रयोजनों से मानव-श्रम की नियमित लामबंदी की अपेक्षा के कारण लोगों को इन कार्यों के लिए अपना ठिकाना छोड़कर जाए बगैर समय निकालना पड़ता था।

जैसा कि इस काल के अभिलेखों में बहुवर्णित अभिव्यक्ति, 'अ-चाट-भाट्ट-प्रवेश्य' — 'चाट और भाट्ट का प्रवेश वर्जित' — जिसका अभिप्राय एक बड़े विशेषाधिकार से था, जो दर्शाता है कि उनके प्रवेश का अर्थ था गाँव-वालों के लिए एक बड़ा बोझ। चाट और भाट्ट राज्य कर्मियों की दो श्रेणियाँ थीं, और प्रायः माना जाता है कि इस दौर में केवल इन दो का ही जिक्र मिलता है। परन्तु, जैसा कि उड़ीसा में सोनपुर क्षेत्र से सोमवंशी राजाओं के दो ताम्रपत्र अभिलेखों के मिले-जुले प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं, शब्द चाट-भाट्ट आमतौर पर अधिकारी-वर्ग के लिए प्रयोग होता था। इन दोनों अभिलेखों की एक समान संरचना है, जिनमें से एक में राज्य कर्मचारियों को जाने-पहचाने शब्द राज-पद-उपजीवी कहा गया है परन्तु दूसरे में चाट-भाट्ट जाति शब्द प्रयुक्त किया गया है (चाट-भाट्ट-जातियाँ, ऐपिग्राफिआ इंडिका, xi, नं. 8, ए, पंक्तियाँ 7-8; बी, पंक्ति 9)। इसी प्रकार चन्देला चार्टर में चाट-आदि के प्रवेश को वर्जित किए जाने (निषिद्ध-चाट-आदि-प्रवेश) का संदर्भ मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप राजा, राजपुरुष, चाट व अन्य को विवादास्पद क्षेत्र से अपने विशेषाधिकारों (अभाव्य) को त्याग देना पड़ा।

गाँवों में राज्य कर्मियों की महत्त्वपूर्ण विद्यमानता को अनेक अन्य तरीकों से देखा जाता है। मैत्रक और राष्ट्रकूट चार्टरों में यह अभिव्यक्त किया गया है कि *राजकीयनाम् अहस्त-प्रक्षेपणिय* (शासकीय अधिकारियों पर उंगुली (शब्दतः 'हाथ') भी नहीं उठाई जानी चाहिए) – जो अपने अभिप्राय और निर्देश की स्पष्टता में, असम से प्राप्त निम्नलिखित अभिलेख के सुलिखित विवरण से अत्यधिक मेल खाता है :

.... इस भूमि पर बहुत से शोषकों का प्रवेश नहीं होना चाहिए, जिनमें शामिल हैं, अन्य के अलावा, रानी, शाही राजकुमार, शाही कृपापत्र, हिजड़े, हाथियों वाले और नौ-बन्धक, चोरों का पता लगाने वाले अधिकारी, साथ ही वे भी जिन पर ऊपरिकर शुल्क और उत्खेतन महसूल लगाया गया हो।

(यू.एन. घोषाल, 1929, पृ. 329)

इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। यह संदर्भ एक भूखण्ड का है, न कि किसी गाँव का जो यह स्पष्ट करता है कि 'प्रवेश' का मतलब अनाधिकार प्रवेश नहीं है बल्कि यह आगन्तुक शोषकों की सेवा के दायित्व को इंगित करता है। दूसरे, इन दायित्वों, जैसे एक या दो हाथियों का भरण-पोषण, का निहितार्थ न केवल वस्तु प्रदान करना था बल्कि श्रम सेवा प्रदान करना भी था। महाभारत पर बाद की एक टिप्पणी इस बात को अधिक स्पष्ट करती है जहाँ राजा की तुलना ऐसे सनकी व्यक्ति से की गई है जो अपने हाथियों को अपने मातहतों पर मढ़ देता है; महत्त्वपूर्ण रूप से, यह कृत्य *विश्वती* का उदाहरण कहा जा सकता है – अर्थात्, शाही हाथियों के पोषण का दायित्व वस्तु रूप में भुगतान किए जाने की बजाय श्रम सेवा की श्रेणी से अधिक संबंध रखता था।

इस प्रकार, कृषक समाज में स्तरीकरण का एक निर्णायक लक्षण, वह वर्ग, जिसे राज्य वर्ग कहा जा सकता है, और ग्रामीण जन-साधारण के बीच एक दरार थी। ('राज्य वर्ग' से अभिप्राय उस सामाजिक समूह से है जो राज्य-तंत्र का निर्माण करते थे।) यह भी तर्कसंगत रूप से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस राज्य-वर्ग की विद्यमानता कृषक वर्गों पर भारी लेकिन असमान रूप से बोझ डालती थी। वह आम कृषक वर्ग ही था जो स्थानीय सरकारी कर्मचारियों की माँगों के झटके झेलता था। उदाहरण के लिए, केवल वे ब्राह्मण, जिन्हें शूद्रों के समकक्ष माना जाता था, से आमतौर पर बेगार लिया जाता था। कश्मीर और नेपाल जैसे पहाड़ी क्षेत्रों में, यह सत्य है कि सिद्धान्ततः कोई भी, यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी उससे छूट प्राप्त नहीं थी; ऐसा केवल विशाल धनराशि के बदले में और भूख-हड़ताल की सूरत में ही हुआ कि कश्मीर के राजा ने कुछ पुरोहितों को इससे छूट प्रदान की। यद्यपि इन दोनों ही क्षेत्रों के संदर्भ दर्शाते हैं कि काम न करने के लिए जुर्मानों के रूप में *विश्वती* अथवा *रूधभरोधी* सदा ही उनके द्वारा खरीदे जा सकते थे जिनके पास धन, आदि साधन होते थे। राज्य वर्ग की विद्यमानता, इस प्रकार, कृषक समाज में पहले से ही विद्यमान विभाजनों पर जोर देने में सहायता करती थी।

इन अभिलेखों में शाही (राजकीय) भूमि के बहुत ही थोड़े संदर्भ यह दर्शाते हैं कि कभी-कभी राज्य भी भूमि का स्वामी होता था और वह उस पर गैर-सरकारी भू-स्वामियों की ही भाँति खेती करवाता था। यह लोगों से राजस्व वसूले जाने से गुणात्मक रूप से भिन्न था। राज्य की यह भूमिका बंगाल से प्राप्त एक नौवीं शताब्दी के ग्रंथ *देवी पुराण* में भी देखी जा सकती है, जो – 'परामर्श देता है कि ... शासक को दुर्ग से लगे निचले इलाकों में सीधे खेती का मार्ग अपनाना चाहिए और, इस उद्देश्य से, उसे समीपवर्ती गाँवों (खेटकों) में रहने वालों से अपने लिए सेवा करवानी चाहिए (सेवन कार्य):' (यादव, 1981, पृ. 264)। कश्मीर में जहाँ माना जाता है कि राज्य का बहुमूल्य फसल केसर पर एकाधिकार था, राज्य की इस प्रकार की भूमिका सुस्पष्ट है।

वी.वी. मिराशी और लल्लनजी गोपाल जैसे प्रख्यात विद्वानों द्वारा प्रकाश में लाए गए भू-अनुदान अभिलेखों की श्रेणी विशेष की व्याख्या प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में शाही फार्मों की एक अधिक व्यापक तस्वीर प्रस्तुत करती है। हमें *व्यक्तियों को राजा द्वारा दान में दिए गए भूमि के वृहदाकार टुकड़ों के बारे में साक्ष्य मिलते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरणों में राजा द्वारा सिंचाई के संसाधनों*

को मुहैया कराते हुए वर्णित किया गया है। राजा भला वह वस्तुएँ कैसे दे सकता था जो उसकी या उसके पास न हो? इस तर्क के संदर्भ में, इसे राज्य-द्वारा नियंत्रित कृषि के साक्ष्य का ही हिस्सा माना जाता है, जहाँ व्यक्ति विशेष की व्याख्या अस्थायी काश्तकारों के रूप में की जाती है जिनका ज़मीन पर कोई अधिकार नहीं होता था। यह व्याख्या, हालाँकि, भूमि के या तो शाही अथवा निजी स्वामित्व की धारणा पर आधारित है। इसी अवधारणा पर आधारित इसी साक्ष्य की प्रतिस्पर्धी व्याख्याएँ भी हैं; डी. सी. सरकार, उदाहरण के लिए, मानते हैं कि राजा ज़मीन को धार्मिक उपहार के रूप में देने से पूर्व उसे उसके धारक व्यक्ति से खरीद लेता था। वास्तव में, भूमि के इस प्रकार खरीदे जाने के कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, और न ही व्यक्तियों के अस्थायी काश्तकार होने के।

यह मुद्दा भूमि के राजकीय अथवा वैयक्तिक स्वामित्व की अवधारणा द्वारा अस्पष्ट बना दिया गया है, जिसकी व्यर्थता की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। एक बार इस अवधारणा को निर्मूल कर देने और अन्य प्रकार के साक्ष्यों को सामने लाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये उदाहरण आमतौर पर भूमि पर सहविस्तृत अधिकार के थे। राजा जो भूमिदा ('ज़मीन का दाता') के रूप में देता था वह किसानों के स्वामित्व वाली भूमि पर राजस्व का अंश ही होता था, सिवाय ऐसे मामलों में जैसा कि मैत्रक राजा शिलादित्य प्रथम के जेसर प्लेट में देखा जा सकता है, जब एक भूखण्ड किसी गुमशुदा (उत्सन्न) किसान का था अतः इस प्रकार अनुदान के समय वह पूर्ण रूप से राज्य की सम्पत्ति था।

प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में कृषक वर्गों की ज़मीन और व्यक्तियों पर राजस्व एवं अन्य अधिकारों का हस्तांतरण ही वह सबसे महत्वपूर्ण तरीका था जिसके द्वारा राज्य कृषक समाज के स्वरूप को बदल देता था। इन बातों पर हम अगले भाग में विचार करेंगे।

12.5 राज्य और स्त्रीकरण-2

उत्तर भारत से प्राप्त जिन भू-अनुदान अभिलेखों की हमें जानकारी प्राप्त है, उनसे यह स्पष्ट धारणा बनती है कि उनमें से बड़ी संख्या उनकी है जो धार्मिक व्यक्तियों और संस्थाओं को राजस्व के दावे (claims) के हस्तांतरण से सम्बद्ध हैं। इस बात को ठीक से समझने के लिए कि ये अनुदान कृषि-संरचना को किस प्रकार प्रभावित करते थे, हमें सबसे पहले अनुदान में दिए जा रहे राजस्व मांग के विवरण और फिर उन शर्तों को ध्यान में रखना चाहिए जिन पर उन्हें हस्तांतरित किया गया। एक बार इन अनुदानों का संरचनात्मक महत्व स्पष्ट हो जाने के बाद, आगे प्रासंगिकता के मुद्दों - विस्तार संबंधी प्रश्नों समेत - पर चर्चा की जा सकती है।

इन सैकड़ों अभिलेखों में हस्तांतरण के ब्यौरों का दरअसल सभी जगह किसी एक समान रीति से विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं है। एक ही प्रकार के दायित्वों को भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यक्त किया गया हो सकता है, और सभी अभिलेखों में सभी प्रकार की राजकीय मांग नज़र नहीं आती हैं। उदाहरण के लिए, भाग शब्द का प्रयोग प्रमुख भू-कर हेतु काफी सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् वह कर जो मुख्य पैदावार पर लगता था, परन्तु दानी और उदरंग (जो उत्तर प्रदेश से प्राप्त हर्षवर्धन के मधुबन स्थित अभिलेख में अन्य स्थानों के वर्णन के साथ आता है) इसके महत्वपूर्ण अपवाद थे। विभिन्न राज्यों के चार्टरों के अनुदानों की संरचना में भी विचारणीय भेद हो सकता था। ऐसा ही एक प्रमुख भेद आर.एस. शर्मा ने दर्शाया है :

पालों और प्रतिहारों के शासनकाल में सभी कृषि-संबंधी अधिकार, जैसे चरागाहों, फल-वृक्षों, जल कुण्डों, झाड़ियों व निकुंजों, वनों, बंजर भूमि, निम्न भूमि, आवसरिक बाढ़ग्रस्त होने वाली भूमि, आदि के प्रयोग संबंधी अधिकार अनुदान प्राप्तकर्ताओं को हस्तांतरित किए जाते थे।

परन्तु राष्ट्रकुटों के शासन काल में, वृक्ष-पत्तियों को छोड़कर ..., जिनका उल्लेख बाद के अनुदानों में भी मिलता है, कोई भी अन्य ग्राम संसाधन विशेष रूप से अनुदान प्राप्तकर्ताओं को हस्तांतरित नहीं किए जाते थे।

(शर्मा, 1980, पृ. 94)

शर्मा भी, जो इन संसाधनों की गणना को काफी महत्त्व देते हैं, यह स्वीकार करने में मुश्किल पाते हैं कि इस विषमता का अर्थ है अपने-अपने राज्यों की स्थिति में वास्तविक अंतर। ये भिन्नताएँ दरअसल एक ही क्षेत्रों अथवा वंशों के चार्टरों के बीच भी देखी जा सकती हैं, न कि सिर्फ भिन्न क्षेत्रों के मध्य। उदाहरण के लिए, पूर्व उद्धृत असम अनुदान में गाँव के 'शोषकों' संबंधी ब्यौरे, इस क्षेत्र में प्राप्त अन्य अनुदान अभिलेखों में आमतौर पर नहीं मिलते हैं; निश्चित ही, फिर भी, यह हमें इस क्षेत्र में कहीं भी इन 'शोषकों' की अनुपस्थिति का निष्कर्ष निकालने की पात्रता प्रदान नहीं करती। मालवा के परमारों (9-13वीं शताब्दी ईसवी) के अभिलेखों के एक विश्लेषण में प्रदान किए गए संसाधनों की गणना के नौ से भी अधिक तरीके बताये गए हैं। विश्लेषण दर्शाता है कि गणना में भिन्नताओं के बावजूद, हर मामले में राज्य से जो कुछ भी माँग की जाती थी अनुदान प्राप्तकर्ताओं को यथासंभव दिया जाता था।

इस प्रकार का विश्लेषण अन्य राज्यों से प्राप्त रिकॉर्डों पर किया। जाना अभी बाकी है। फिर भी इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि हम जो उत्तर-गुप्त काल के अभिलेखों में देखते हैं वे किसी सामान्य विशेषता को भिन्न-भिन्न तरीकों से कहने के तरीके मात्र हैं अर्थात्, अपने अनेक विशिष्ट ब्योरों में राज्य अनुदान प्राप्तकर्ताओं की सभी माँगें पूरी करता था और चेतावनी देता था कि उनके अधिकार केवल उन्हें अनुदान में प्राप्त क्षेत्रों पर ही लागू हैं। इस सामान्य विशेषता का अर्थ दरअसल एक अपरिवर्तनशील समानता नहीं है। बल्कि विशिष्ट बात यह है कि एकरूपता और भिन्नता संबंधी निष्कर्ष ऐतिहासिक स्रोतों के सतही आधार पर नहीं बल्कि उनको साहित्यिक और प्रासंगिक विश्लेषण के आधार पर निकाला जाना चाहिए।

कुछ विशिष्ट वर्णनों में भिन्नताओं का पता लगाना, क्षेत्रों के भीतर भी और उनके बीच भी, अपेक्षाकृत अधिक आसान है। इसका एक स्पष्ट उदाहरण है, सीढ़ीदार कुँए (वापी) और रहट (अरघट्ट) पूर्वी भारत के कर-योग्य संसाधनों में नहीं मिलते, जैसा कि सिर्फ उम्मीद की जाती है। फिर अनेक ऐसे शब्द हैं जो माना जाता है कि वे सिर्फ करों अथवा कर योग्य संसाधनों के लिए प्रयुक्त किए जाते थे परन्तु वे समय और स्थान के अनुसार इतने विशिष्ट थे कि उनका सटीक अर्थ हमें भ्रान्त करता है। एक ऐसा ही शब्द *म्युत* है जो दसवीं शताब्दी के अलवर क्षेत्र से प्राप्त राजौर अभिलेख में मिलता है। एफ. कीलहॉर्न, इस अभिलेख के सम्पादक, के अनुसार इस शब्द के बारे में कोई भ्रम नहीं है, 'क्योंकि यह अभिलेख बड़ी सावधानीपूर्वक लिखा और उत्कीर्ण किया हुआ है'। परन्तु यह शब्द घोषाल द्वारा गलत वर्तनी में लिखा गया है, और उनका अनुसरण करते हुए, सरकार द्वारा भी उसकी गलत व्याख्या भोग के समकक्ष की गई है। वस्तुतः भोग और म्युत इस अभिलेख में दोहरे तत्त्वों तथा दोहरी अभिव्यक्ति भोग-म्युत-आदाया-भ्यम के रूप में आते हैं।

राजस्व माँग के तरीकों के साथ-साथ समय और स्थान के अनुसार कराधान के समस्त दायित्वों संबंधी भिन्नताओं का पता लगाना भी संभव है। उड़ीसा और पश्चिमी भारत से प्राप्त कुछ प्रारंभिक अभिलेखों में प्रमुख कर नकदी में उगाहे जाते थे। इस दिशा में एक निश्चित प्रवृत्ति इस काल की अंतिम शताब्दियों में बंगाल में भी देखी जा सकती है। परन्तु यह वस्तुतः एक सीमित घटना ही रही। इतिहासकारों के मध्य इस बात पर करीब-करीब एकमतता है कि करों की संख्या प्रारंभिक मध्यकालीन शताब्दियों में उल्लेखनीय तरीके से बढ़ी जिससे करों का बोझ और अधिक हो गया। परन्तु, करों की संख्या बढ़ने संबंधी यह धारणा बहुत थोड़े से अभिलेखों के मनमाने ढंग से चयन पर आधारित है। इसको पहले पूरी तरह प्रमाणित किए जाने की आवश्यकता है और फिर उसकी तुलना प्रारंभिक काल में निश्चित रूप से लागू करों से की जानी चाहिए, अर्थात् कौटिल्य के *अर्थशास्त्र*, में वर्णित करों से, जिसमें कोसाम्बी के अनुसार, 'शामशास्त्री के अग्रेजी अनुवाद की सूची में आर्थिक दंड (अकेले) पूरे नौ कॉलम घेरते हैं', (कोसाम्बी, 1975, पृ. 216)। परन्तु, कहने का आशय, यह है कि करों की संख्या में वृद्धि तक को उच्च कराधान हेतु प्रमाणित करना निर्णायक नहीं हो सकता। आखिरकार, अंततः जैसा कि वास्तव में था, दिल्ली सल्तनत, करों की अपनी काफी छोटी फेहरिस्त के साथ भी कम कर नहीं वसूलती थी। विभिन्न राज्यों पर केवल करों की संख्याओं की तुलना से ही प्रयोजन सिद्ध नहीं

होगा; किसी प्रदत्त राज्य के भीतर, हाँ, इससे अवश्य करों के बोझ का पता लगाया जा सकता है।

प्रारम्भिक मध्यकाल में स्तरीकरण
का स्वरूप एवं कृषक समाज की
क्षेत्रीय रूपरेखा : उत्तर भारत

हम स्रोतों में एक भिन्न प्रकार की संकेत-शृंखला पर विचार कर सकते हैं, जो, कुल मिलाकर, इस पूरे काल में कराधान में वृद्धि की ओर इशारा करती है। उपरोक्त राजौर अभिलेख परम्परागत (उचित) और गैर-परम्परागत (अनुचित) करों का उल्लेख करता है; इस विभाजन में पुराने करों में नए करों का योग निहित है। (शर्मा इनका अर्थ 'न्यायसंगत' और 'असंगत' करों के रूप में लेते हैं, परन्तु इसका मतलब होगा कि राजा अपने ही करों को धार्मिक अनुदान किए जाने के कार्य में अनुचित घोषित कर रहा था, कम से कम अंशतः, जो असंभव प्रतीत होता है)। करों की वृद्धि की एक आम प्रवृत्ति चालुक्य शासन के संस्थापक राजा मूलराज की एक विशेष स्तुति में देखी जा सकती है, जिसने गुजरात के चापा शासकों को पदच्युत कर दिया था। बालि शब्द के काव्यात्मक प्रयोग में उसे बालि अर्थात् कर को 'नियंत्रित' करने का श्रेय दिया जाता है, और ऐसा उसके द्वारा भगवान् विष्णु की भाँति ही किया गया था, जिन्होंने अपने वामन अवतार में असुर राजा बालि का दमन किया था। फिर भी चालुक्यों ने बाद में स्वयं बालि को 'अनियंत्रित' करते हुए एक नया कर-निर्धारण (नव-निधान) लागू किया। अन्त में, हमारे पास कल्हण का प्रमाण है, जो इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है कि किस प्रकार कश्मीर के राजा हर्ष ने करों में वृद्धि अत्यधिक रूप से कड़ी सीमा तक की।

हमारे पास, इस प्रकार, राजकीय माँग के बढ़ते बोझ की प्रवृत्ति की धारणा को मानने के उचित आधार हैं। परन्तु ऐसा नहीं लगता कि यह आमतौर पर भू-अनुदानों के माध्यम से प्रभावित होती थी, जिससे कि अनुदान प्राप्तकर्ता अपनी मर्जी से अनुदानों द्वारा प्रदान की गई निरंकुश शक्तियों के माध्यम से जनता को लूटता-खसोटता हो। राज्य अनुदान प्राप्तकर्ताओं को अपने ही अधिकार प्रदान करता था। अनुदान प्राप्तकर्ता को केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करने की अनुमति होती थी जो उन्हें प्रदान किए जाते थे — न कम, न ज्यादा। यह बात 'निश्चित रूप से' यथादियमान जैसे वाक्यांशों द्वारा स्पष्टतः (जो कि नकारात्मक प्रमाण द्वारा निष्कर्ष निकाले जाने से भिन्न है) दर्शायी गई है, जिसका अर्थ है : लोगों को यथापूर्व ही भुगतान करने का आदेश दिया जाता था। राजकीय माँग को चूँकि हस्तांतरित किया जाता था, अतः इनमें दरअसल अतिरिक्त भावी आय की संभावना भी शामिल होती थी, जैसे बंजर भूमि पर खेती करवाना। अगर राजौर के अभिलेख का उद्धरण एक बार लें तो यह निबद्ध आय के साथ-साथ अनिबद्ध आय का भी वर्णन करता है। निबद्ध का अर्थ है 'पंजीकृत' और ऐसा प्रतीत होता है कि इसका तात्पर्य आय के सर्वेक्षित और मूल्यांकित संसाधनों से था। बाकी संसाधनों को अनिबद्ध कहा जाता था। ऐसी वृद्धि स्पष्टतः एक ही बात नहीं थी क्योंकि अनुदान प्राप्तकर्ता के पास करों की दर बढ़ाने का अधिकार होता था।

उपर्युक्त वर्णन के अनुकूल, इन चार्टरों में इस बात का शायद ही कोई संकेत मिलता है कि लोगों के सामुदायिक कृषि अधिकारों पर राजकीय अनुदानों से पहली बार कोई असर पड़ा हो। यह देखने में आता है कि लोगों से, जो कुछ भी कर वे राज्य को देते थे, अनुदान प्राप्तकर्ताओं को देने को कहा गया, और यह कि कर योग्य संसाधनों में शामिल थे चरागाह, पोखर, वन, मत्स्य क्षेत्र, इत्यादि। जिसका अर्थ यह है कि ये संसाधन पहले ही राज्य विशेष में कराधीन थे। कभी-कभी जो एक तर्क दिया जाता है, उसके विपरीत, वे सामुदायिक रूप से नियंत्रित संसाधन नहीं थे जिन पर कथित राज्य स्वयं कोई अधिकार नहीं जताता था, परन्तु हस्तांतरित किए जाने की प्रक्रिया में, उन्हें भविष्य में अनुदान प्राप्तकर्ताओं द्वारा कर-वसूली के अधीन बना देता था।

कुछ मुख्य शब्दों की उपस्थिति में दो प्रमुख पैटर्न शर्मा द्वारा खोजे गए हैं, जिनका उल्लेख और उनका विस्तारपूर्वक वर्णन आवश्यक है। एक है विस्ती या-बेगार, जो 'व्यवहारतः परमारों, चालुक्यों और चाहमानों के अभिलेखों से गायब है। प्रमाणतः, यह प्रथा इन राज्यों में समाप्त हो चुकी थी। इसी प्रकार, गहडवाल और चंदेल अभिलेखों में भी बेगार का उल्लेख ही नहीं है' (शर्मा, 1980, पृ. 196)। दूसरे, चंद प्रारम्भिक चार्टरों में अनुदान में दी जा रही भूमि अथवा गाँव के साथ-साथ वहाँ के

निवासियों का भी उल्लेख किया गया है। इन निवासियों को माना जाता है कि इस प्रकार के अनुदानों द्वारा उनकी गतिशीलता की स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाता था। यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर काल में और भी बढ़ गई थी। तदनुसार, ऐसे अनुदान जो उक्त ढंग से किसानों व अन्य निवासियों का संदर्भ नहीं देते हैं, उनमें उन्हें भू-अनुदानों के साथ नहीं जोड़ा जाता था। उदाहरण के लिए, बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में बंगाल से प्राप्त पुरालेखीय अभिलेख अनुदान प्राप्तकर्ताओं को किसानों के हस्तांतरण का संदर्भ नहीं देते। परन्तु बाद में यह प्रथा देश के इस हिस्से में भी प्रवेश कर गई। (शर्मा, 1980, पृ. 188; परन्तु, शर्मा ने इसी उद्धरण से पहले के पैराग्राफ में बंगाल क्षेत्र से प्राप्त इस प्रकार के हस्तांतरण संबंधी एक मध्य-ग्यारहवीं शताब्दी का उदाहरण दिया है)।

कुछ विशेषज्ञ प्रथम पैटर्न को बदलने में सक्षम हुए बगैर, उसके विषय में आशंकित हैं। दूसरा पैटर्न, अर्थात् अनुदानों के विवरणों में उल्लिखित निवासियों के संदर्भों को आलोचकों द्वारा महज राजस्व अनुदान दिए जाने के एक और तरीके के रूप में देखा गया है। उनके अनुसार इसके सिवाय उसका कोई अन्य खास महत्त्व नहीं है। भूमि के साथ-साथ हस्तांतरित किए जा रहे संसाधनों में निवासियों को शामिल करने के संबंध में यह तर्क दिया जाता है कि अनुदान प्राप्तकर्ताओं को कर-भुगतान के अलावा निवासियों को किसी अन्य दायित्व अथवा नियंत्रण के अधीन नहीं रखा जाता था। यह अन्तर, आप देखेंगे, उन अभिलेखों में है जहाँ निवासियों (अथवा उनके घरों) का उल्लेख अनुदान में दिए जा रहे भू-भाग/गाँव के विवरण के हिस्से के रूप में किया गया है। पश्चिमी भारत से कुछ ऐसे अभिलेख भी प्राप्त होते हैं, जहाँ कुछ किसान स्वयं – अपनी एक श्रेणी के रूप में – अनुदान की मदों के रूप में नजर आते हैं। इन किसानों की अधीन स्थिति के संबंध में कोई विवाद नहीं है, इसी प्रकार की स्थिति वाले व्यक्तियों के संदर्भ हमें साहित्यिक स्रोतों में भी मिलते हैं।

हमारे विचार में, इन पैटर्नों को ठीक ढंग से समझने के लिए स्रोतों की अधिक परिपूर्ण आलोचनात्मक विवेचना के साथ-साथ राजकीय माँगों (जो शायद ही कभी महज राजस्व मांग तक सीमित होते थे, बिना किसी अन्य मांग के) पर एक व्यापक परिप्रेक्ष्य की भी जरूरत है। यदि हम माँगों के तीन प्रमुख घटकों को ध्यान में रखें (कर, जुर्माना, और सामान्यीकृत श्रम सेवा), और प्रमाणों की समग्रता पर विचार करें – किसी प्रदत्त अभिलेख की सम्पूर्ण संरचना के प्रमाण, न कि महज इसके कुछ शब्दों के, और सभी उपलब्ध अभिलेखों के, न कि सिर्फ कुछ के – हम देखेंगे कि हमने जो बातें पहले कही थीं, पुष्ट होती गई हैं : उन्हीं तीन प्रकार की राजकीय माँगों को हर जगह हस्तांतरित किया जा रहा था (हर प्रकार की भीतर की भिन्नताओं को स्वीकार करते हुए)। श्रम सेवा करना लोगों का दायित्व था और वे अनुदान प्राप्तकर्ताओं की आज्ञाओं के अधीन थे, यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ इस विषय में कोई विशिष्ट शर्तें नहीं पाई जाती। जब *विश्वती* शब्द प्रचलन में नहीं था तो भी यह निहित अर्थों में विभिन्न तरीकों से विद्यमान था, और इसी प्रकार, वहाँ भी जहाँ निवासी उन संसाधनों के बीच तफसीलवार न भी गिनाए गए हों जो भूमि के साथ अनुदान में दिए जाते थे, अन्य तर्क यही दशाति हैं कि उन्हें अनुदान प्राप्तकर्ताओं के प्राधिकारों से छूट प्राप्त नहीं थी। यह तथ्य *कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकैरम*, खंड VII, भाग 3, चन्देलों के सभी विदित भू-अनुदान अभिलेखों संबंधी निम्नलिखित चर्चा में देखी जा सकती है।

चन्देला चार्टर, जैसा कि हमने ऊपर देखा, *विश्वती* के संदर्भों के अभाव के साथ-साथ अनुदानों में निवासियों – शिल्पकार, कृषक, व्यापारी, (*कारू-कर्षक-वणिज*) – जो भूमि के साथ-साथ हस्तांतरित किए जाने वाले संसाधनों में शामिल होते थे, को शामिल किए जाने के लिए भी जाने जाते हैं। वे संसाधनों वाली लम्बी फेहरिस्त के लिए भी जाने जाते हैं : 'चन्देला चार्टर अनुदान प्राप्तकर्ताओं को दिए गए गाँवों और उसके उत्पादों की सबसे विस्तृत सूची भी प्रस्तुत करते हैं' (शर्मा, 1980, पृ. 183)। परन्तु, हम पाते हैं कि यद्यपि चन्देलों के सभी भू-अनुदान अभिलेखों की एक ही रूपरेखा है, केवल दो अभिलेख ही निवासियों के हस्तांतरण का संदर्भ देते हैं, बाकी नहीं (इन दो में से एक में वर्णन है *कारुकपम्कवणिज*, जिसकी प्रायः *कारू-कपम्क-वणिज* अथवा *कारूका-पम्कवणिज* के रूप में व्याख्या की जाती है, परन्तु स्पष्टतः यह एक त्रुटि है, जैसा कि शर्मा लिखते हैं, जिसका सही रूप

है — कारु-कषक-वणिज)। इसके अतिरिक्त, अनुदान संबंधी व्यौरों के विस्तारण में भी हम काफी भिन्नता देखते हैं। एक अभिलेख में, ग्राम संसाधनों संबंधी केवल एक ही वाक्यांश है (सीमातृण-काष्ठको-पर्यन्त)। कुछ में, लोगों से बहुत संक्षिप्त में ही भुगतान को कहा गया है, 'भाग, भोग, आदि' (भाग-भोग-आदिका), तो दूसरों में, 'आदि से' आगे पशु-हिरण्य-कर-शुल्क जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में, हम यह नहीं पता लगा सकते कि क्या चन्देल शासक जुर्मानों से प्राप्त आय भी दान कर दिया करते थे, परन्तु दो अभिलेखों को छोड़कर जिनके अनुसार उनकी सूची में दण्डदय शामिल है। इसके अतिरिक्त, वे करों के दोहरे विभाजन का संदर्भ परंपरागत (उचित) और गैर-परंपरागत (अनुचित) के रूप में करते हैं।

यदि हम सिर्फ भिन्नताओं को ही लें तो निष्कर्षतः हमें मानना पड़ेगा कि इन दो अपवादों को छोड़कर, अनुदान में दिए गए गाँवों में बाकी निवासीजन अपनी मर्जी से रहने या वहाँ से जाने के लिए स्वतंत्र होते थे; आमतौर पर अनुदान प्राप्तकर्ताओं को लोगों से जुर्माने वसूलने का अधिकार नहीं होता था, जिनमें उन दो गाँवों में रहने वाले वे लोग भी शामिल थे जहाँ वे भूमि के साथ ही हस्तांतरित किए जाते थे; गैर-परंपरागत करों का लागू होना नियम होने की बजाय एक अपवाद ही था, इत्यादि। परन्तु यदि हम इन अभिलेखों की समग्र संरचना पर नज़र डालें और अन्य शब्दों एवं वाक्यांशों को विचारार्थ लें तो यह तर्कसंगत रूप से स्पष्ट हो जाता है कि हमें निष्कर्ष भिन्न रूप से ही निकालना होगा। एक चन्देल अभिलेख के 'भाग, भोग, आदि' में 'आदि' शब्द में अन्य चन्देल अभिलेखों में निर्दिष्ट कर भी शामिल थे, जैसे जुर्माने, पशु-हिरण्य-कर-शुल्क के साथ-साथ अन्य कर जो उस समय लागू थे परन्तु उपलब्ध प्रमाण से उनका पता नहीं चलता; जो संयोग से, परंपरागत और गैर-परंपरागत करों के बीच विभाजन के स्वरूप का कोई संकेत नहीं देते। जब सभी राजकीय माँगों का कुल योग (निःशेष-आदाय) उपहार स्वरूप दिया जा रहा होता था, तो कोई फर्क नहीं पड़ता था कि संसाधन पूरी तरह से सूचीबद्ध हों या आंशिक रूप से। यदि लोगों से कहा जाता था कि वे अनुदान प्राप्तकर्ता के आदेश (आज्ञा) को ध्यान से सुनें (श्रवण) और उसका पालन करें (विधेय) तो अनुदान के वर्णन में निवासियों का उल्लेख न होने की वजह से चीजें भौतिक रूप से नहीं बदलती थीं। भूमि के साथ ही हस्तांतरित अथवा अनुदान प्राप्तकर्ता के आदेश पर रखे गए लोग संभवतः उन्हें सेवा प्रदान करने से मना नहीं कर सकते थे। और यदि हमें ऐसे किसी प्रारंभिक भारतीय राज्य की जानकारी नहीं है जो अपने अधीनस्थों से सामान्य रूप से श्रम सेवाओं की माँग नहीं करता था, तो हमें चन्देला राज्य में इस प्रथा के अभाव को मानकर चलने का हक नहीं है।

वे शर्ते, जिन पर राजकीय माँगों को धार्मिक कार्यकर्ताओं एवं संस्थाओं को हस्तांतरित किया जाता था — ने एक प्रकार की कृषि सम्पत्ति का सृजन किया। ये अनुदान 'जब तक सूरज-चाँद रहेगा' कहावत की तर्ज पर अनन्त काल के लिए दिए जाते थे। यह विशिष्टतः जल तर्षण के कर्मकाण्ड द्वारा किया जाता था। यह लोकोक्ति जिसका हमने ऊपर हवाला दिया है अपने पूरे स्वरूप में निम्नवत् है :

अद्भिर=दत्तम त्रिभिर=भुक्तम सद्भिश=च परिपालितम्।

इतानि न निवर्तनते पूर्व-राज-कृतानि च।।

(अनुवाद) '(भूमि) जो जल के तर्षण द्वारा अनुदान में दी गई है, तीन (पीढ़ियों) द्वारा भुक्त, उत्तम

जनों द्वारा उचित ढंग से संरक्षित, और पूर्व शासकों द्वारा अनुदान में दी गई — इनको (राज्य द्वारा)

न ज़ब्त किया जाए'।

पूर्व शासकों द्वारा प्रदत्त अनुदानों का संदर्भ यह दर्शाता है कि प्रथम वर्णन तत्कालीन प्रभावी शासक द्वारा दिए जा रहे अनुदानों के संदर्भ का संकेत देता है। दूसरी श्रेणी भुज (धारण/उपभोग) तथा अगम (स्वामित्व) के बीच भिन्नता में समझी जा सकती है; यह प्रारंभिक स्मृति साहित्य के दृष्टिकोण का संदर्भ देती है कि जिसके अनुसार तीन पीढ़ियों द्वारा भूमि के उपभोग से भू-स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है (यह अवधि बाद के विधि-साहित्य में बहुत लम्बी कर दी गई)। 'उचित ढंग से संरक्षित' और 'उत्तम जन' के संबंध में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

प्रारंभिक मध्यकाल में स्त्रीकरण का स्वरूप एवं कृषक समाज की क्षेत्रीय रूपरेखा : उत्तर भारत

इस लोकोक्ति का महत्त्व धार्मिक भू-अनुदानों की उत्पत्ति को कृषि-अधिकारों के मान्यताप्राप्त रूप में दर्शाने में निहित है जो अन्य, पुराने अधिकारों के समान ही है। 'जल के तर्षण' के साथ अनुदान यहाँ इसी रूप को दर्शाता है, परन्तु अभिलेखों में यह एक से अधिक तरीकों से रेखांकित है। त्रिपुरी के कालाचुरियों के अभिलेखों में 'जल के तर्षण' के स्थान पर दरअसल प्रायः शासनात्वेन शब्द का प्रयोग किया गया है। 'शासनत्व द्वारा', शब्द का अनुवाद, हालाँकि कुछ-कुछ असंतोष जनक रूप से, 'अनुदान के माध्यम से' के रूप में किया गया है। अधिक सामान्य तौर पर, तर्षण के संदर्भ के अलावा, सम्पत्ति अधिकारों का वर्णन इन शब्दों में किया जाता था - 'भूमि को भोगो, इसे जोतो, इस पर खेती करवाओ, और इसे सौंप दो': अनुदान प्राप्तकर्ता को इस अधिकारों का प्रयोग उन्हीं तरीकों से करना होता था जैसा कि राज्य अब तक करता आया था। यह भी आवश्यक था कि अनुदान प्राप्तकर्ता को लोगों के प्रचलित कृषि अधिकारों का आदर करना होगा जैसा कि राज्य अब तक करता आया है। सम्पत्ति के रूप में अनुदान में दी गई भूमि संबंधी स्पष्टतः कथन, जैसा कि कहा जाता है, चन्देला चार्टरों में ही मिलता है, जिनमें अनुदान प्राप्तकर्ताओं के अधिकारों को 'उपहार, रेहन, और बिक्री' (दान-अधान-विक्रय) बताया गया है, जो उपभोग, कृषि, आदि अधिकारों के अतिरिक्त हैं।

कृषि-अधिकार के इस भिन्न रूप के निर्माण के माध्यम से प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत में भूमिपतियों का एक भिन्न वर्ग अस्तित्व में आया। वे अपने क्षेत्र में सभी प्रकार की उपज के हिस्से पर दावा रखते थे, और लोगों पर अतिरिक्त आर्थिक सत्ता का उपभोग करते हुए, उनके मालिक बन गए।

ऐसे स्वामित्व की अनेक इकाइयाँ देखने में आती हैं। निचले स्तर पर, जुती भूमि का एक छोटा-सा क्षेत्र किसी ब्राह्मण को सौंप दिया जाता था। अन्य मामलों में, उनमें से दर्जनों, कभी अधिक, कभी कम, को सामूहिक रूप से कोई गाँव अथवा कई गाँव अनुदान में दिए जाते थे। ज्यादा आम चलन, प्रतीत होता है, यह था कि एक समय में कम से कम एक बार, एक व्यक्ति को एक गाँव अनुदान में दिया जाता था।

लेकिन बिहार स्थिति नालन्दा विश्वविद्यालय का भी उदाहरण हमारे सामने है जिसके पास दो सौ गाँव थे, और गुजरात में सोमनाथ के मंदिर का उदाहरण भी, जो कि बताया जाता है कि दो सौ गाँवों का स्वामी था। यह ठीक-ठीक कहना असंभव है कि हमारे काल में ये अनुदान किस प्रकार दिए जाते थे। परन्तु, इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि इस प्रकार अच्छी-खासी संख्या में भूमिपतियों का उदय हुआ।

आमतौर पर प्रारंभिक मध्यकालीन उत्तर भारत के शासकगण अपने अधिकारियों को इस प्रकार के अनुदान देने से परहेज़ करते थे। अधिकारियों को निस्संदेह उनकी सेवाओं के लिए भू-राजस्व दिया जाता था, परन्तु किसी वंशानुगत आधार पर उन्हें भूमि संबंधी राजकीय माँगों का प्रदान किया जाना बिल्कुल भी प्रचलन में नहीं था; इस प्रकार का, चलन से भिन्न, उदाहरण एक चन्देला अभिलेख में देखा जा सकता है, जब एक व्यक्ति को युद्ध में उसे पिता के मारे जाने पर इस रीति से भूमि अनुदान में दी गई। राज्य-अधिकारी, अपने सेवा संबंधी विशेषाधिकारों और अनुदानों के साथ, निश्चित रूप से कृषक समाज में राजकीय वर्ग के सदस्यों के रूप में विद्यमान रहते थे। राज्य-नियंत्रण की पकड़ कमजोर पड़ने पर वे स्थानीय स्तरों पर सत्ता हड़प लेते थे और वंशानुगत स्वामी बन जाते थे। परन्तु, पुनः ऐसा नहीं लगता कि धार्मिक कार्यकर्ताओं एवं संस्थाओं के लिए बनाई गए नियमित राजकीय नीति की भाँति राज्य द्वारा अपने अधिकारियों को भू-स्वामित्व का वंशानुगत अधिकार प्रदान करने की राज्य की कोई नियमित राजकीय नीति रही होगी।

धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ता भू-स्वामियों के समकक्ष एक गैर धार्मिक भू-स्वामी वर्ग का भी व्यापक स्तर पर अस्तित्व रहा होगा जो भूमि और प्रजा पर राजकीय दावों से लैस थे। ये राज्य-अनुदानों द्वारा लाभान्वित होने के बजाय स्वनिर्मित अधिपति थे। अभिलेखों और साहित्य में अनेक शब्द एक बड़ी ही

जटिल संरचना में उनके अस्तित्व का संकेत देते हैं, परन्तु शोधों के माध्यम से सटीक व्यौरों का इंतजार है। बी.एन.एस. यादव ने साहित्यिक स्रोतों में भोगियों की सामान्य श्रेणी का संदर्भ दिया है, जिनमें से एक में भोगियों का संदर्भ गाँवों पर बलपूर्वक अधिकार करने वाले के रूप में मिलता है। और एक अन्य में उनकी तुलना शासकों से की गई है (यादव, 1981, पृ. 280-81)। ऐसे भोगियों का एक क्षेत्रीय उदाहरण कश्मीर के डामर हो सकते हैं। राजतरंगिणी में एक से अधिक संदर्भ यह तजवीज करते हैं कि डामरों की उत्पत्ति गाँवों पर वैयक्तिक रूप से आधिपत्य जमाने हेतु सम्पन्न कृषक वर्ग की श्रेणियों से हुई (उनके पास दुर्ग भी हुआ करते थे) और इन्होंने सामूहिक रूप से शासकीय सत्ता के लिए खतरा पैदा किया। ये राज्य की सृष्टि होने के बजाय, अपने आप प्रकाश में आये और राज्य-सत्ता में हिस्से के लिए केन्द्रीय सत्ता (राजाधिकार) हेतु होड़ की। इससे बाद में ऐसे समूहों के सर उठाने से बचने के लिए राज्य द्वारा भरसक कोशिश की जाती थी। भू-स्वामियों के रूप में, इस दृष्टि से कि कृषक वर्गों पर उनके एक ही प्रकार के दावे होते थे, उनकी स्थिति राज्य-सृजित उन भूस्वामियों के सदृश्य ही थी। परन्तु वे इस बात में भिन्न थे कि जहाँ डामर अपने पराक्रम से ही टिके रहे और फले-फूले, धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ता गण शासकों के निरन्तर समर्थन पर निर्भर थे जिनके बारे में प्रसिद्ध था कि वे, अवसर पड़ने पर, एक राजकीय वृत्ति के बदले दूसरी अपना लेते थे, अथवा कुछ प्रतिपूर्ति के बदले किसी अनुदान पर बलात् अधिकार कर लेते थे, या फिर बिना किसी तकल्लुफ के उसे बलात् छीन लेते थे; यह भी ज्ञात है कि राजकीय कर्मचारी अनुदान प्राप्तकर्ताओं का जीना भी दुश्वार कर सकते थे।

12.6 कृषक, बटाईदार और भू-स्वामी : कृषक समाज का आरोही स्वरूप

यह भाग ऐतिहासिक शोधों के अल्पतम ज्ञात क्षेत्रों में से एक है, अर्थात् दर्शायी गई रुचि और अपनाए गए तरीकों की अपेक्षा उपलब्ध सामग्री के लिहाज से कम। यद्यपि अभी हाल में भू-अनुदान प्राप्तकर्ताओं की अपेक्षा अन्य कृषि-समूहों पर शोध की ओर ध्यान-केन्द्रित करने की कुछ जोश भरी दलीलें दी गई हैं।

इस क्षेत्र में अधिकांश शोध कार्य शब्दों की व्याख्या पर ही केन्द्रित रहा है। बहुत से शब्द, जो विभिन्न कृषक समूहों को इंगित करते हैं, की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है और व्यापक रूप से वे चर्चित रहे हैं, यह कार्य दूसरे इतिहासकारों की अपेक्षा यादव (1993) द्वारा अधिक किया गया, जो उनकी विद्वता के विस्तार का परिचय देते हैं। इस विषय संबंधी गहन अध्ययन अत्यधिक प्रतीक्षित है।

हमारे काल और क्षेत्र में कृषक वर्ग हेतु सबसे अधिक प्रयुक्त आम शब्द है - कुटुम्बिन/कुटुम्बिका। मैत्रक (5-8 शताब्दी ईसवी) अभिलेखों में उनके नाम और उनके भूखण्डों के आकारों के सटीक, स्थान तथा काल-संबंधी वर्णनों और अर्थ-संबंधी प्रसंगों में उनके बारे में विस्तृत वर्णन मिलता है। परन्तु इनका योजनाबद्ध, विस्तृत विश्लेषण, अभी तक नहीं किया गया है, कम से कम अंग्रेजी में तो नहीं ही। परन्तु वैयक्तिक कुटुंबियों द्वारा नियन्त्रित भूमि के परिमाण में महत्त्वपूर्ण भिन्नताओं की अभिव्यक्ति यह दर्शाती है कि इस शब्द में, कृषक वर्ग के सामान्य जन-समूह के अलावा, अधिक सम्पन्न समूह भी शामिल थे, अर्थात् धनी कृषक वर्ग। पूर्वी भारत के संदर्भ में सामान्य रूप से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है - प्रधान अथवा अग्रणी कुटुंबियों और निम्न स्तर वालों (शूद्र-प्रकृति) के संदर्भ द्वारा और एक खास तरीके से भूमि का उपहार देते एक कुटुंबी के संदर्भ द्वारा भी, जिसका अर्थ है उसके पास अपने महज भरण-पोषण की आवश्यकता से अधिक भूमि थी।

निचले स्तर पर, हम कुटुंबियों को निर्भरता की स्थिति में पाते हैं, जैसा कि जब वैयक्तिक कुटुंबीजन स्वयं उपहार की मदों के रूप में दिखाई देते हैं। इस स्रोतों में अन्य शब्द भी हैं जो असहाय निर्भर कृषकों के इस प्रकार के स्तरीकरण के अस्तित्व को प्रकाश में लाते हैं, जैसे बद्धहलिका (एक बंधुआ हलवाहा) अथवा प्रतिबद्धेना योजिता [बलात् जुए में जोता गया (एक पशु की मानिंद)]।

कुटुंबियों के ऊपर भू-स्वामियों की एक श्रेणी महत्तरों की थी। वे गाँव में कुटुंबियों की अपेक्षा अपनी काफी कम संख्या के लिए जाने जाते हैं, जो राज्य प्रशासन में स्थानीय स्तरों पर प्रतिष्ठित थे, जिनकी गाँव में प्रबल समूह के रूप में पहचान थी, और जो अधिक शक्ति और संसाधनों के लिए व्यक्तिगत रूप से राजा को रिश्वत दिया करते थे। इस बात के मद्देनज़र कि कुटुंबियों में धनी कृषक वर्ग का एक स्तर शामिल हो सकता था, इस बात की नितांत संभावना है कि महत्तरों को उनके बीच भू-स्वामी ही गिना जाए। पश्चिम भारत में, पट्टकिला इसी प्रकार का एक समूह ही प्रतीत होता है।

धनी किसानों और भू-स्वामियों की महत्त्वपूर्ण विद्यमानता, जो अपनी ज़मीन दूसरों से जुतवाते थे, उनके श्रमरत प्रतिपक्षियों – बटाईदार अथवा फार्म काश्तकार – हेतु प्रमाण द्वारा प्रकाश में लाई जाती है। इत्सिंग (7वीं शती ईसवी) नालन्दा के बौद्धविहार को ऐसे ही बटाईदारों द्वारा जुतवाये जाने का संदर्भ देता है, जो इतने महत्त्वपूर्ण थे कि विधि साहित्य में वे एक जाति के रूप में नज़र आते हैं।

ये बटाईदार भूमिहीन थे अथवा वे छोटे-छोटे जोतधारक थे, अर्थात् जिनके पास भूमि के इतने छोटे-छोटे टुकड़े थे कि उन्हें फार्म काश्तकारी पर निर्भर रहना पड़ता था? अर्थशास्त्र में वर्णित एक से अधिक प्रकार के बटाईदारों का उल्लेख उनके बीच एक प्रकार के विभेदीकरण को दर्शाता है। इतिहासकार, बहरहाल, प्रायः यह मानकर चलते हैं कि भारत में अछूत जातियाँ प्रायः भूमिहीन होती थीं। इस विषय में वास्तविक शोधों के अभाव को हरबंस मुखिया द्वारा 'सामन्तवाद पर बहस' के दौरान बहुत तीक्ष्ण रूप से रेखांकित किया गया है :

... इस आशय का अभी तक कोई भी समकालीन प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है [मुखिया लिखते हैं] कि जाति प्रथा (अथवा राज्य) उन्हें भू-नियंत्रण का अधिकार दिए जाने से मुकरते हों।

चूँकि प्राचीन भारतीय इतिहास से मेरी भिन्नता द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है, मेरे तीन सहयोगियों, बी.डी. चट्टोपाध्याय, सुवीरा जायसवाल और रोमिला थापर से मैंने निवेदन किया कि ... इस विषय में प्राथमिक प्रमाण द्वारा मेरी मदद करें; प्रत्येक ने विफलता ही दर्शायी है।

(मुखिया, 1985, पृ. 253, 261-62 नं. 15)

यहाँ यह बात प्रासंगिक है कि राजतरंगिणी में राजा को एक अछूत भू-स्वामी (एक जूता-निर्माता) से प्रार्थना करनी पड़ी कि अपनी ज़मीन उसे बेच दे ताकि उस भूमि पर एक मंदिर बनवाया जा सके।

12.7 सारांश

निष्कर्षतः हम कृषक समाज के इस विवरण के वैचारिक आधारों पर चर्चा करेंगे। उत्तर भारत की मध्यकालीन कृषि-संरचना को बहुपरती स्तरीकरण के रूप में देखा जा सकता है। बहुपरती स्तरीकरण का अर्थ है अनेक परतों का एक तारतम्यपूर्ण क्रम बनाते विभिन्न समूह (जिसमें प्रत्येक समूह का एक स्तर होता है)।

हालाँकि, यह सभी स्तरण एक ही प्रकार के नहीं थे, न ही वे एक दूसरे के संबंध में एक ही प्रकार का पदानुक्रम बनाते थे। वे, उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार के फार्म काश्तकार थे (उनके अनेक 'स्तरण'), जिनके अपने भू-स्वामियों के साथ बटाई प्रबन्ध एक प्रकार का 'पदानुक्रम' बनाते थे। इसी प्रकार, विभिन्न श्रेणियों के किसान भी थे – धनी और मध्यम, साथ ही छोटे जोतधारक भी। समान रूप से निश्चित ही, भू-स्वामियों द्वारा धारण की जाने वाली ज़मीन के परिमाण में महत्त्वपूर्ण फर्क भी रहे होंगे। कृषकों में आपस में भेद तो थे लेकिन सारे किसान गुणात्मक रूप से भूमि नियंत्रण के संदर्भ में भू-स्वामियों से भिन्न थे। राज्य और उनके कर्मचारीगण अन्य तरीकों से हमारी जानकारी में शामिल होते हैं। स्तरण एवं पदानुक्रम संबंधी संकल्पनाएँ इस प्रकार विभिन्न कृषि-समूहों के विशिष्ट चरित्र को पूरी तरह से समझने के लिए उपयोगी हैं, परन्तु पर्याप्त नहीं, और इस प्रकार कृषि-संरचना में समग्र लक्षणों को समझने के लिए भी।

इसी कारण यह आवश्यक हो जाता है कि उस वर्ग की श्रेणी को सामने लाया जाये जिससे कृषक समाज के निर्णायक विभाजनों को एक-दूसरे से भिन्न पहचान के लिए कोई समान पैमाना बनाया जा सके। कृषक वर्ग सिद्धान्ततः स्वामित्व, श्रम रोजगार की संरचना और अधिशेष निष्कर्षण के तरीके के रूप में परिभाषित किए जाते हैं। बटाईदार, कृषक, भूमिपति, और 'राजकीय वर्ग' जैसा कि ऊपर रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, वस्तुतः ऐसे ही वर्ग हैं।

प्रारम्भिक मध्यकाल में स्तरीकरण का स्वरूप एवं कृषक समाज की क्षेत्रीय रूपरेखा : उत्तर भारत

हमारे कृषक समाज का प्रमुख लक्षण था — भूमिपतियों के एक सुस्पष्ट वर्ग की विद्यमानता। वे ज़मीन पर राजकीय दावों को रूपांतरित करके और क्षेत्र विशेष के लोगों को एक टिकाऊ आधार पर उनके अपने ही निजी दावों में रूपांतरित करके — अपने ही बूते या फिर राज्य की पहल पर — अस्तित्व में आए। कृषि-अधिकार का एक नया रूप उभरकर आया, जहाँ सभी पूर्व-विद्यमान कृषक वर्ग — भूमिहीन श्रमिक से लेकर बड़े-से-बड़े भू-स्वामी तक — नए भू-स्वामी की माँगों और प्राधिकार के अधीन होता था। क्या वह आपको मध्यकालीन पश्चिमी यूरोप के सामन्ती भूमिपति की याद दिलाता है?

12.8 अभ्यास

- 1) प्रारम्भिक मध्यकालीन कृषि-संरचना संबंधी हमारी जानकारी के क्षेत्रीय आयामों पर आलोचनात्मक रूप से चर्चा करें।
- 2) राज्य किन तरीकों से भूमि पर स्वामित्व रखता था?
- 3) लोगों से राजस्व वसूली की प्रक्रिया में राजा ने ग्रामीण-समाज के स्तरीकरण को किस प्रकार प्रभावित किया?
- 4) विभिन्न प्रकार के भू-अनुदानों की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
- 5) राजकीय धार्मिक अनुदानों द्वारा उत्पन्न भूमिपतियों के वर्ग के अलावा अन्य भूमिपति वर्गों की उत्पत्ति पर एक निबंध लिखिए।
- 6) उत्तर-गुप्तकालीन उत्तर भारत में कृषि उत्पादन में रत जन-साधारण की संरचना पर चर्चा करें।

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चक्रवर्ती, रनबीर (2000), देखें 'अपैण्डिक्स', बी.डी. चट्टोपाध्याय व अन्य, ए सोर्स बुक ऑफ इंडियन सिविलाइज़ेशन, कोलकाता।

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1990), ऑसपैक्ट्स ऑफ रूरल सैटलमैण्ट्स एंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली मिडिवल इंडिया, कलकत्ता।

चट्टोपाध्याय, बी.डी. (1994), द मेकिंग ऑफ अर्ली मिडिवल इंडिया, ओ.यू.पी., नई दिल्ली।

घोषाल, यू.एन. (1929), कांट्रीव्यूशन्स टु द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रैविन्यू सिस्टम, कलकत्ता।

ज्ञा, विश्व मोहन (1994), 'सैटलमैण्ट, सोसाइटी, एण्ड पॉलिटी इन अर्ली मिडिवल रूरल इंडिया', द इंडियन, हिस्ट्रॉरिकल रिव्यू, भाग 20, पृ. 35-64।

कोसाम्बी, डी.डी. (1975), ऐन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, द्वितीय संस्करण, बम्बई।

कुल्के, हर्मन एवं डी. रॉदरमण्ड (1986), ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया, दिल्ली।

मुखिया, हरबंस, (सं.) (1999), द फ़्यूडलिज़्म डिबेट, दिल्ली।

प्रारम्भिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था
और उसकी निरन्तरताएँ

नियामाश, मर्लिन (1992), 'सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ द विलेज इन काठियावाड़ इन द सिक्स-सैवेन्थ
सेन्चुरी ए.डी.', सोशल साइन्स प्रोबिंग्स.

राय, जी.के. (1981), इन्वॉलंटरी लेबर इन एन्शिएन्ट इंडिया, इलाहाबाद.

साहू, बी.पी. (1997), लैंड सिस्टम एंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली इंडिया, दिल्ली.

शर्मा, आर.एस. (1965/1980), इंडियन फ्यूडलिज्म, C.300-1200, कलकत्ता/दिल्ली.

सरकार, डी.सी. (1969), लैंडलॉर्डिज्म एंड टैनेन्सी इन एन्शिएन्ट एंड मिडिवल इंडिया एज़ रिवील्ड
बाइ एपिग्राफ़िक रिकॉर्ड्स, लखनऊ.

यादव, बी.एन.एस. (1981), 'द प्रॉब्लम ऑफ़ द इमरजैन्स ऑफ़ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इंडिया',
डी.एन. झा (सं.), द फ्यूडल आर्डर : स्टेट, सोसाइटी, एंड आइडिओलॉजी इन अर्ली मिडिवल इंडिया,
दिल्ली.

यादव, बी.एन.एस. (1993), 'प्रेसीडेन्शियल ऐड्रेस' प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस.